International Journal of Trend in Scientific Research and Development (IJTSRD)
Special Issue on Advancing Multidisciplinary Research and Analysis - Exploring Innovations | April 2024
Available Online: www.ijtsrd.com e-ISSN: 2456 – 6470

मध्यकालीन भारत में भक्ति एवं संत परम्परा

Ramu Kumar[1], Dr. Anita Kavdia[2]

[1]UGC NET NFSC/ JRF; Ph.D. Research Scholar, MLSU, Udaipur, Rajasthan, India
[2]Professor, Department of History, Govt. Meera Girls College, Udaipur, Rajasthan, India

सार

मध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास में भक्ति आन्दोलन एक महत्वपूर्ण पड़ाव था। इस काल में सामाजिक-धार्मिक सुधारकों द्वारा समाज में विभिन्न तरह से भगवान की भक्ति का प्रचार-प्रसार किया गया। सिख धर्म के उद्भव में भक्ति आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। [1]पूर्व मध्यकाल में जिस भक्ति धारा ने अपने आन्दोलनात्मक सामर्थ्य से समूचे राष्ट्र की शिराओं में नया रक्त प्रवाहित किया, उसके उद्भव के कारणों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है लेकिन एक बात पर सहमति है कि भक्ति की मूल धारा दक्षिण भारत में छठवीं-सातवीं शताब्दी में ही शुरू हो गई थी। १४वीं शताब्दी तक आते-आते इसने उत्तर भारत में अचानक आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया। किन्तु यह धारा दक्षिण भारत से उत्तर भारत कैसे आई, उसके आन्दोलनात्मक रूप धारण करने के कौन से कारण रहे, इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।अब बहुत से विद्वान भक्ति आन्दोलन से सम्बन्धित १९वीं-२०वीं शताब्दी के विचारों पर प्रश्न उठाने लगे हैं। अनेक विद्वान अब मध्य युग के भक्ति आन्दोलन को वैदिक परम्परा की मूल बातों का नए रूप में उदय के रूप में देखने लगे हैं।

हिन्दू धर्म तथा अन्य भारतीय धर्मों में सन्त उस व्यक्ति को कहते हैं जो सत्य आचरण करता है तथा आत्मज्ञानी है, जैसे संत शिरोमणि गुरु रविदास, सन्त कबीरदास, संत तुलसी दास गुरू घासीदास।'सन्त' शब्द 'सत्' शब्द के कर्ताकारक का बहुवचन है। इसका अर्थ है - साधु, संन्यासी, विरक्त या त्यागी पुरुष या महात्मा।

उदाहरण

या जग जीवन को है यहै फल जो छल छाँडि भजै रघुराई।
शोधि के संत महंतनहूँ पदमाकर बात यहै ठहराई। —
पदमाकर (शब्द०)।

ईश्वर के भक्त या धार्मिक पुरुष को भी सन्त कहते हैं। साधुओं को परिभाषा में सन्त उस संप्रदायमुक्त साधु या संत को कहते हैं जो विवाह करके गृहस्थ बन गया हो।

मत्स्यपुराण के अनुसार संत शब्द की निम्न परिभाषा है :
ब्राह्मणा: श्रुतिशब्दाश्च देवानां व्यक्तमूर्तय:।
सम्पूज्या ब्रह्मणा ह्येतास्तेन सन्तः प्रचक्षते॥

ब्राह्मण ग्रंथ और वेदों के शब्द, ये देवताओं की निर्देशिका मूर्तियां हैं। जिनके अंतःकरण में इनके और ब्रह्म का संयोग बना रहता है, वह सन्त कहलाते हैं।

परिचय

भक्ति आन्दोलन का आरम्भ दक्षिण भारत में आलवारों एवं नायनारों से हुआ जो कालान्तर में (800 ई से 1700 ई के बीच) उत्तर भारत सहित सम्पूर्ण दक्षिण एशिया में फैल गया।[3]

इस हिन्दू क्रांतिकारी अभियान के नेता शंकराचार्य थे जो एक महान विचारक और जाने माने दार्शनिक रहे। इस अभियान को चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, तुकाराम, जयदेव ने और अधिक मुखरता प्रदान की। इस अभियान की प्रमुख उपलब्धि मूर्ति पूजा को समाप्त करना रहा।

भक्ति आंदोलन के नेता रामानन्द ने राम को भगवान के रूप में लेकर इसे केन्द्रित किया। उनके बारे में बहुत कम जानकारी है, परन्तु ऐसा माना जाता है कि वे 15वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में रहे। उन्होंने सिखाया कि भगवान राम सर्वोच्च भगवान हैं और केवल उनके प्रति प्रेम और समर्पण के माध्यम से तथा उनके पवित्र नाम को बार-बार उच्चारित करने से ही मुक्ति पाई जाती है।

चैतन्य महाप्रभु सोलहवीं शताब्दी के दौरान बंगाल में हुए। भगवान के प्रति प्रेम भाव रखने के प्रबल समर्थक, भक्ति योग के प्रवर्तक, चैतन्य ने ईश्वर की आराधना श्रीकृष्ण के रूप में की।

श्री रामानुजाचार्य, भारतीय दर्शनशास्त्री थे। उन्हें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैष्णव संत के रूप में मान्यता दी गई है। रामानंद ने उत्तर भारत में जो किया वही रामानुज ने दक्षिण भारत में किया। उन्होंने रुढिवादी कुविचार की बढ़ती औपचारिकता के विरुद्ध आवाज उठाई और प्रेम तथा समर्पण की नींव पर आधारित वैष्णव विचाराधारा के नए सम्प्रदाय की स्थापना की। उनका सर्वाधिक योगदान अपने मानने वालों के बीच जाति के भेदभाव को समाप्त करना था।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में भक्ति आन्दोलन के अनुयायियों में संत शिरोमणि रविदास, नामदेव और संत कबीर दास शामिल हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से भगवान की स्तुति के भक्ति गीतों पर बल दिया।

प्रथम सिक्ख गुरु और सिक्ख धर्म के प्रवर्तक, गुरु नानक जी भी संत और समाज सुधारक थे। उन्होंने सभी प्रकार के जाति भेद और धार्मिक शत्रुता तथा रीति रिवाजों का विरोध किया। उन्होंने ईश्वर के एक रूप माना तथा हिन्दू और मुस्लिम धर्म की औपचारिकताओं तथा रीति रिवाजों की आलोचना की। गुरु नानक का सिद्धांत सभी लोगों के लिए था। उन्होंने हर प्रकार से समानता का समर्थन किया। Tfuvh सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में भी अनेक धार्मिक सुधारकों का उत्थान हुआ। वैष्णव सम्प्रदाय के राम के अनुयायी तथा कृष्ण के अनुयायी अनेक

छोटे वर्गों और पंथों में बंट गए। राम के अनुयायियों में प्रमुख संत कवि तुलसीदास थे। वे अत्यंत विद्वान थे और उन्होंने भारतीय दर्शन तथा साहित्य का गहरा अध्ययन किया। उनकी महान कृति 'रामचरितमानस' जिसे जन साधारण द्वारा 'तुलसीकृत रामायण' कहा जाता है, हिन्दू श्रद्धालुओं के बीच अत्यंत लोकप्रिय है। उन्होंने लोगों के बीच श्री राम की छवि सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान, दुनिया के स्वामी और परब्रह्म के साकार रूप से बनाई।

कृष्ण के अनुयायियों ने 1585 ईसवी में राधा-बल्लभी पंथ की स्थापना की। सूरदास ने ब्रजभाषा में सूर सागर की रचना की, जो श्री कृष्ण के मोहक रूप तथा उनकी प्रेमिका राधा की कथाओं से परिपूर्ण है।[1,2,3]

भक्ति आन्दोलन की कुछ विशेषताएँ

- यह आन्दोलन न्यूनाधिक पूरे दक्षिणी एशिया (भारतीय उपमहाद्वीप) में फैला हुआ था।
- यह लम्बे काल तक चला।
- इसमें समाज के सभी वर्गों (निम्न जातियाँ, उच्च जातियाँ, स्त्री-पुरुष, सनातनी, सिख, मुसलमान आदि) का प्रतिनिधित्व रहा।
- इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप संस्कृत के बजाय क्षेत्रीय भाषाओं में भारी मात्रा में हिन्दू साहित्य की रचना हुई जो मुख्यतः भक्ति काव्य एवं संगीत के रूप में है।

प्रभाव

- भक्ति आन्दोलन के द्वारा हिन्दू समाज ने इस्लाम के प्रचार, जोर-जबरजस्ती एवं राजनैतिक हस्तक्षेप का कड़ा मुकाबला किया।
- इसका इस्लाम पर भी प्रभाव पड़ा। (सूफ़ीवाद)

भक्ति आन्दोलन के बारे में विद्वानों के विचार

- बालकृष्ण भट्ट के लिए भक्तिकाल की उपयोगिता अनुपयोगिता का प्रश्न मुस्लिम चुनौती का सामना करने से सीधे सीधे जुड़ गया था। इस दृष्टिकोण के कारण भट्ट जी ने मध्यकाल के भक्त कवियों का काफी कठोरता से विरोध किया और उन्हें हिन्दुओं को कमजोर करने का जिम्मेदार भी ठहराया। भक्त कवियों की कविताओं के आधार पर उनके मूल्यांकन के बजाय उनके राजनीतिक सन्दर्भों के आधार पर मूल्यांकन का तरीका अपनाया गया। भट्ट जी ने मीराबाई व सूरदास जैसे महान कवियों पर हिन्दू जाति के पौरुष पराक्रम को कमजोर करने का आरोप मढ़ दिया। उनके मुताबिक समूचा भक्तिकाल मुस्लिम चुनौती के समक्ष हिन्दुओं में मुल्की जोश जगाने में नाकाम रहा। भक्त कवियों के गाये भजनों ने हिन्दुओं के पौरुष और बल को खत्म कर दिया।
- रामचन्द्र शुक्ल जी ने भक्ति को पराजित, असफल एवं निराश मनोवृत्ति की देन माना था। अनेक अन्य विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया जैसे, बाबू गुलाब राय आदि। डॉ॰ राम कुमार वर्मा का मत भी यही है -: मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने हिंदुओं के हृदय में भय की भावना उत्पन्न कर दी थी इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था।
- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम इस मत का खंडन किया तथा प्राचीनकाल से इस भक्ति प्रवाह का सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपने मत को स्पष्टत: प्रतिपादित किया। उन्होंने लिखा - यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मन्दिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार से यदि भक्ति की धारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में, फिर उसे उत्तरभारत में, प्रकट होना चाहिए था, पर हुई वह दक्षिण में।

स्वामी माधवाचार्य (संवत् 1254-1333) ने 'ब्राह्म सम्प्रदाय' नाम से द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय चलाया जिसकी ओर लोगों का झुकाव हुआ। इसके साथ ही द्वैताद्वैतवाद (सनकादि सम्प्रदाय) के संस्थापक निम्बार्काचार्य ने विष्णु के दूसरे अवतार कृष्ण की प्रतिष्ठा विष्णु के स्थान पर की तथा लक्ष्मी के स्थान पर राधा को रख कर देश के पूर्व भाग में प्रचलित कृष्ण-राधा (जयदेव, विद्यापति) की प्रेम कथाओं को नवीन रूप एवं उत्साह प्रदान किया। वल्लभाचार्य जी ने भी कृष्ण भक्ति के प्रसार का कार्य किया। जगत्प्रसिद्ध सूरदास भी इस सम्प्रदाय की प्रसिद्धि के मुख्य कारण कहे जा सकते हैं। सूरदास ने वल्लभाचार्य जी से दीक्षा लेकर कृष्ण की प्रेमलीलाओं एवं बाल क्रीड़ाओं को भक्ति के रंग में रंग कर प्रस्तुत किया। माधुर्यभाव की इन लीलाओं ने जनता को बहुत रसमग्न किया।[4,5,6]

इस तरह दो मुख्य सम्प्रदाय सगुण भक्ति के अन्तर्गत अपने पूरे उत्कर्ष पर इस काल में विद्यमान थे - रामभक्ति शाखा; कृष्णभक्ति शाखा।

इसके अतिरिक्त भी दो शाखाएँ प्रचलित हुईं - प्रेममार्ग (सूफ़ी) तथा निर्गुणमार्ग शाखा।

सगुण धारा के इस विकास क्रम के समानांतर ही बाहर से आए हुए मुसलमान सूफ़ी संत भी अपने विचारों को सामान्य जनता में फैला रहे थे। मुसलमानों के इस लम्बे प्रवास के कारण भारतीय तथा मुस्लिम संस्कृति का आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था। फिर इन सूफ़ी संतों ने भी अपने विचारों को जनसाधारण में व्याप्त करने की, अपने मतों को भारतीय आख्यानों में, भारतीय परिवेश में, यहीं की भाषा-शैली लेकर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया। इनके मतों में कट्टरता का कहीं भी आभास नहीं था। इनका मुख्य सिद्धान्त प्रेम तत्त्व था। यद्यपि प्रेम के माध्यम से ईश्वर को पाने के लिए किए जाने वाले प्रयास (विधि) में कुछ अन्तर अवश्य था तथापि इनके प्रेम तत्त्व के प्रतिपादन एवं प्रसार शैली ने लोगों को आकर्षित किया। इन्होंने एकेश्वरवाद का प्रतिपादन भी किया जिसे कुछ लोगों ने अद्वैतवाद ही मान लिया, जो कि उचित नहीं है। हज़रत निज़ामुद्दीन चिश्ती, सलीम चिश्ती आदि अनेक संतों ने हिन्दू-मुसलमान सबका आदर प्राप्त किया। इस सूफ़ी मत में भी चार धाराएँ मुख्यत: चलीं-

(१). चिश्ती सम्प्रदाय

(२). कादरी सम्प्रदाय

(३). सुहरावर्दी सम्प्रदाय

(४). नक्शबंदिया सम्प्रदाय।

जायसी, कुतुबन, मंझन आदि प्रसिद्ध (साहित्यकार) कवियों ने हिन्दी साहित्य को अमूल्य साहित्य रत्न भेंट किए। निर्गुणज्ञानाश्रयी शाखा पर भी इनका प्रभाव पड़ा तथा हिन्दू-मुसलमानों के भेद को मिटाने की बातें कही जाने लगीं। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हें 'हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वाला' कहा।

रामानन्द जी उत्तर भारत में रामभक्ति को लेकर आए थे। उनके सिद्धान्तों में इस भक्ति का स्वरूप दो प्रकार का था - राम का निर्गुण रूप; राम का अवतारी रूप। ये दोनों मत एक साथ ही थे। निर्गुण रूप में राम का नाम तो होता पर उसे 'दशरथ-सुत' की कथा से सम्बद्ध नहीं किया जाता। रामानन्द ने देखा कि भगवान की शरण में आने के उपरान्त छूआ-छूत, जाँत-पाँत आदि का कोई बन्धन नहीं रह जाता अत: संस्कृत के पण्डित और उच्च ब्राह्मण कुलोद्भूत होने के पश्चात भी उन्होंने देश-भाषा में कविता लिखी और सबको (ब्राह्मण से लेकर निम्नजाति वालों तक को) राम-नाम का उपदेश दिया। कबीर इन्हीं के शिष्य थे। कबीर, रैदास, धन्ना, सेना, पीपा आदि इनके शिष्यों ने इस मत को प्रसिद्ध किया। रामनाम के मंत्र को लेकर चलने वाले अक्खड़-फक्कड़ संतों ने भेद-भाव भुला कर सबको प्रेमपूर्वक गले लगाने की बात कही। वैदिक कर्मकाण्ड के द्वारा फैले हुए आडंबरों एवं बाह्य

विधि-विधानों के त्याग पर बल देते हुए राम नाम का प्रेम, श्रद्धा से स्मरण करने की सरल पद्धति और सहज समाधि का प्रसार किया। कबीर में तीन प्रमुख धाराएँ समाहित दिखाई देती हैं -

(१). उत्तरपूर्व के नाथपंथ और सहजयान का मिश्रित रूप

(२). पश्चिम का सूफ़ी मतवाद और

(३). दक्षिण का वेदान्तभावित वैष्णवधर्म[7,8,9]

हठयोग का कुछ प्रभाव इन पर अवश्य है परन्तु मुख्यत: प्रेम तत्त्व पर ही बल दिया गया है। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में इन संतों का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। इन संतों के साहित्य में हमें तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक समस्त स्थितियों के दर्शन हो जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से भी इनका योग बहुत है। सहज प्रेम की भाषा पर बल देने के कारण लोगों का इन पर भी बहुत झुकाव रहा। कबीर की मृत्यु के कुछ समय बाद इसमें भी सम्प्रदाय की स्थापना हो गई। अन्य शाखाओं के समान इसका महत्व भी भक्तिकाल को पूर्ण बनाने में है।

ये चारों शाखाएँ भक्तिकाल या मध्यकाल के पूर्व भाग में अपने उत्कर्ष में थीं। इन चारों ही शाखाओं ने हिन्दी साहित्य को बड़े-बड़े व्यक्तित्व प्रदान किए जैसे - सूर, तुलसी, कबीर आदि। अपने भक्तिभाव की चरम उत्कृष्टता के लिए भी ये जनता के मन-मानस पर आधिपत्य कर सके। आज भी ये श्रद्धा एवं आदर से देखे जाते हैं। यद्यपि कालान्तर में इन सम्प्रदायों में भी अनैतिकता के तत्त्वों के प्रवेश के कारण शुद्धता नहीं रह गई थी तथा इनका पतन भी धीरे-धीरे हो गया था तथापि जो अद्‌भुत मणियाँ इस काल में प्राप्त हुईं, वे किसी भी अन्य काल में प्राप्त नहीं हो सकीं, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। भक्तिकाल में हर प्रकार से कला समृद्धि हुई, नवीन वातावरण का जन्म हुआ, जन-जन में भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के स्रोत फूट पड़े, ऐसा काल वस्तुत: साहित्येतिहास का "स्वर्णकाल" कहलाने योग्य है।

सम्प्रदायों से मुक्त रूप में भी भक्ति का प्रचार था। मीरा, रसखान, रहीम का नाम उतनी ही श्रद्धा से लिया जाता है जितना कि किसी सम्प्रदायबद्ध संत कवि का। इस तरह कहा जा सकता है कि जनता में सम्प्रदाय से भी अधिक शुद्ध भक्ति-भाव की महत्ता थी। ऐकान्तिक भक्ति ने समष्टिगत रूप धारण किया और जन-जन के हृदय को आप्लावित कर दिया।

तुलसी की मृत्यु (1680 ई.) के कुछ समय बाद ही रीतिकाल के आगमन के चिह्न दिखाई देने लगे थे। राम के मर्यादावादी रूप का सामान्यीकरण करके उसमें भी लौकिक लीलाओं का समावेश कर दिया गया। कृष्ण की प्रेम भक्ति (मूलक) जागृत करने वाली लीलाओं में से कृष्ण की श्रृंगारिक लीलाओं को ग्रहण करके उसका अश्लील चित्रण होने लगा था। यह स्थिति रीतिकाल में अपने घोरतम रूप में पहुँच गई थी। इसीलिए कहा गया था "राधिका कन्हाई सुमरिन को बहानो है।" रामभक्ति का जो रूप तुलसी ने अंकित किया था, यद्यपि वह धूमिल नहीं हुआ तथापि राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों ने श्रृंगारिकता के वातावरण में उसे विस्मृत कर दिया था। इस तरह धीरे-धीरे ई.1680-90 के आसपास भक्तिकाल समाप्त हो गया।

कालान्तर में यद्यपि जनता में भक्तिभाव विद्यमान रहे तथापि न तो इस (तुलसी आदि के समान) को महान विभूति पैदा हो सकी और न कोई बहुत अधिक लोकप्रिय ग्रंथ ही लिखा जा सका।

भक्ति युग का यह आन्दोलन बहुत बड़ा आन्दोलन था एवं ऐसा आन्दोलन भारत ने इससे पहले कभी नहीं देखा था। इस साहित्य ने जनता के हृदय में श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, जिजीविषा जागृत की, साहस, उल्लास, प्रेम भाव प्रदान किया, अपनी मातृभूमि, इसकी संस्कृति का विराट एवं उत्साहवर्धक चित्र प्रस्तुत किया, लोगों के हृदय में देशप्रेम भी प्रकारंतर से इसी कारण जागृत हुआ।

भक्तियुग में इस तरह मुख्यत: भक्तिपरक साहित्य की रचना हुई परन्तु यह भी पूर्णतया नहीं कहा जा सकता कि किसी अन्य प्रकार का साहित्य उस काल में था ही नहीं। यह अकबर का शासन काल था तथा उसके दरबार में अनेक कवि थे। अब्दुर्रहीम खानखाना आदि की राजप्रसस्तिपरक कुछ कविताएँ मिलती हैं। अकबर ने साहित्य की पारम्परिक धारा को भी प्रोत्साहन दिया था अत: काव्य का वह रूप भी कृपाराम की "हिततरंगिणी" बीरबल के फुटकर दोहों आदि में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त नीति परक दोहे आदि लिखे गये।

एक और महान कवि आचार्य केशव को शुक्ल जी ने भक्तिकाल के फुटकर कवियों में रखा है। यह कार्य उन्होंने केशव के रचनाकाल के आधार पर किया है। केशव की अलंकार, छंद, रस के लक्षणों - उदाहरणों को प्रस्तुत करने वाली तीन महत्त्वपूर्ण रचनाओं - कविप्रिया, रसिकप्रिया तथा रामचन्द्रिका को भक्ति से भिन्न मान कर भी उन्हें इस युग के फुटकर कवियों में शुक्ल जी ने रखा है परन्तु यह उचित नहीं है। केशव का आचार्यत्त्व पूरे रीतिकाल को गौरव प्रदान करता है। रीति - लक्षण -उदाहरण के निर्धारण की परम्परा भी सर्वप्रथम उन्हीं में दिखाई देती है चाहें रीतिकाल में इस निर्धारण के लिए केशव को रीतिकाल से पृथक करना अनुचित है अत: उन्हें भक्तियुग में रखना उचित नहीं है।

भक्तिकाल में ललित कलाओं का उत्कर्ष दिखाई देता है। श्रीकृष्ण-राधा की विभिन्न लीलाओं के चित्र इस काल में मिलते हैं, कोमल एवं सरस भावों को अभिव्यक्त करने वाली अनेक मूर्त्तियाँ इस काल में मिलती है। मूर्तिकला का बहुत विकास इस युग में बहुत अधिक हुआ था। वास्तुकला, चित्रकला में मुस्लिम (ईरानी) शैली का समन्वय भारतीय शैली में हुआ फलत: मेहराबें, गुम्बद आदि का प्रयोग अधिक दिखाई देने लगा। मध्यकाल में राजस्थानी शैली अधिक लोकप्रिय थी। मानवीय चित्रों के अतिरिक्त प्राकृतिक दृश्यों का अंकन, दरबारी जीवन के विविध प्रसंग भी भित्ति चित्र इस युग में प्राप्त होते हैं। 'कुतुबमीनार', 'अढ़ाई दिन का झौंपड़ा' आदि ऐतिहासिक वास्तुकला के अप्रतिम नमूने हैं।

इस तरह साहित्य के साथ ललित कलाओं का विकास भी बहुत अधिक हुआ था। संगीत के क्षेत्र में बहुत प्रगति हुई। कृष्णलीलाओं का गायन, साखी, रमैनी, पद को राग निबद्ध करने की जैसी योजना इस काल में है वैसी अन्यत्र प्राप्य नहीं है। सूर और तुलसी साहित्य में अनेक राग-रागनियों का वर्णन आता है।[10,11,12]

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि भक्ति के उद्‌भव एवं विकास के समय जो कुछ भी भारतीय साहित्य, भारतीय संस्कृति तथा इतिहास को प्राप्त हुआ, वह स्वयं में अद्‌भुत, अनुपम एवं दुर्लभ है। अन्ततः हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में कह सकते है -

समूचे भारतीय इतिहास में यह अपने तरह का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। भक्ति का यह नया इतिहास मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद्‌भक्ति, आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान।

विचार-विमर्श

संतसाहित्य का अर्थ है- वह धार्मिक साहित्य जो निर्गुणिए भक्तों द्वारा रचा जाए। यह आवश्यक नहीं कि सन्त उसे ही कहा जाए जो निर्गुण उपासक हो। इसके अंतर्गत लोकमंगलविधायी सभी सगुण-निर्गुण आ जाते हैं, किंतु आधुनिक ने निर्गुणिए भक्तों को ही "संत" की अभिधा दे दी और अब यह शब्द उसी वर्ग में चल पड़ा है।

"संत" शब्द संस्कृत "सत्" के प्रथमा का बहुवचनान्त रूप है, जिसका अर्थ होता है सज्जन और धार्मिक व्यक्ति। हिन्दी में साधु/सुधारक के लिए यह शब्द व्यवहार में आया। कबीर, रविदास, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास आदि पुराने भक्तों ने इस शब्द का व्यवहार साधु और

परोपकारी, पुरुष के अर्थ में बहुलांश: किया है और उसके लक्षण भी दिए हैं।

लोकोपकारी संत के लिए यह आवश्यक नहीं कि यह शास्त्रज्ञ तथा भाषाविद् हो। उसका लोकहितकर कार्य ही उसके संतत्व का मानदंड होता है। हिंदी साहित्यकारों में जो "निर्गुणिए संत" हुए उनमें अधिकांश अनपढ़ किंवा अल्पशिक्षित ही थे। शास्त्रीय ज्ञान का आधार न होने के कारण ऐसे लोग अपने अनुभव की ही बातें कहने को बाध्य थे। अत: इनके सीमित अनुभव में बहुत सी ऐसी बातें हो सकती हैं, जो शास्त्रों के प्रतिकूल ठहरें। अल्पशिक्षित होने के कारण इन संतों ने विषय को ही महत्व दिया है, भाषा को नहीं। इनकी भाषा प्राय: अनगढ़ और पंचरंगी हो गई है। काव्य में भावों की प्रधानता को यदि महत्व दिया जाए तो सच्ची और खरी अनुभूतियों की सहज एवं साधारणोकृत अभिव्यक्ति के कारण इन संतों में कइयों की बहुवेरी रचनाएँ उत्तम कोटि के काव्य में स्थान पाने की अधिकारिणी मानी जा सकती है। परंपरापोषित प्रत्येक दान का आँख मूँदकर वे समर्थन नहीं करते। इनके चिंतन का आकार सर्वमानववाद है। ये मानव मानव में किसी प्रकार का अंतर नहीं मानते। इनका कहना है कि कोई भी व्यक्ति अपने कुलविशेष के कारण किसी प्रकार वैशिष्ट्य लिए हुए उत्पन्न नहीं होता। इनकी दृष्टि में वैशिष्ट्य दो बातों को लेकर मानना चाहिए : अभिमानत्यागपूर्वक परोपकार या लोकसेवा तथा ईश्वरभक्ति। इस प्रकार स्वतंत्र चिंतन के क्षेत्र में इन संतों ने एक प्रकार की वैचारिक क्रांति को जन्म दिया।

इतिहास

निर्गुणिए संतों की वाणी मानवकल्याण की दृष्टि से जिस प्रकार के धार्मिक विचारों एवं अनुभूतियों का प्रकाशन करती हैं वैसे विचारों एवं अनुभतियों को पुरानी हिंदी में बहुत पहले से स्थान मिलने लगा था। विक्रम की नवीं शताब्दी में बौद्ध सिद्धों ने जो रचनाएँ प्रस्तुत कीं उनमें वज्रयान तथा सहजयान संबंधी सांप्रदायिक विचारों एवं साधनाओं के उपन्यसन के साथ-साथ अन्य संप्रदाय के विचारों का प्रत्याख्यान बराबर मिलता है। उसके अनंतर नाथपंथी योगियों तथा जैन मुनियों की जो बानियाँ मिलती हैं, उनमें भी यही भावना काम करती दिखाई पड़ती है। बौद्धों में परमात्मा या ईश्वर को स्थान प्राप्त न था, नाथपंथियों ने अपने वचनों में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा की। इन सभी रचनाओं में नीति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। ये जगह-जगह लोक को उपदेश देते हुए दिखाई पड़ते हैं। पुरानी हिंदी के बाद जब हिंदी का विकास हुआ तब उसपर भी पूर्ववर्ती साहित्य का प्रभाव अनिवार्यत: पड़ा। इसीलिए हिंदी के आदिकाल में दोहों में जो रचनाएँ मिलती हैं उनमें से अधिकांश उपदेशपरक एवं नीतिपरक हैं। उन दोहों में कतिपय ऐसे भी है जिनमें काव्य की आत्मा झलकती सी दिखाई पड़ जाती है। किंतु इतने से ही उसे काव्य नहीं कहा जा सकता।

पंद्रहवी शती विक्रमी के उत्तरार्ध से संतपरंपरा का उद्भव मानना चाहिए। इन संतों की बानियों में विचारस्वातंत्र्य का स्वर प्रमुख रहा वैष्णव धर्म के प्रधान आचार्य रामानुज, निंवार्क तथा मध्व विक्रम की बारहवीं एवं तेरहवीं शती में हुए। इनके माध्यम से भक्ति की एक वेगवती धारा का उद्भव हुआ। इन आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर जो भाष्य प्रस्तुत किए, भक्ति के विकास में उनका प्रमुख योग है। गोरखनाथ से चमत्कारप्रधान योगमार्ग के प्रचार से भक्ति के मार्ग में कुछ बाधा अवश्य उपस्थित हुई थी, जिसकी ओर गोस्वामी तुलसीदास ने संकेत भी किया है :

गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।

तथापि वह उत्तरोत्तर विकसित होती गई। उसी के परिणामस्वरूप उत्कल में संत जयदेव, महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय के प्रसिद्ध संत [[नामदेव तथा ज्ञानेदव, पश्चिम में संत सधना तथा बेनी और कश्मीर में संत लालदेव का उद्भव हुआ। इन संतों के बाद प्रसिद्ध संत रामानंद का प्रादुर्भाव हुआ, जिनकी शिक्षाओं का जनसमाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यह इतिहाससिद्ध सत्य है कि जब किसी विकसित विचारधारा का प्रवाह अवरुद्ध करके एक दूसरी विचारधारा का समर्थन एवं प्रचार किया जाता है तब उसके सिद्धांतों के युक्तियुक्त खंडन के साथ उसकी कतिपय लोकप्रिय एवं लोकोपयोगी विशेषताओं को आत्मीय भी बना लिया जाता है। जगद्गुरु शंकर, राघवानंद, रामानुज, रामानंद आदि सबकी दृष्टि यही रही है। श्रीसंप्रदाय पर नाथपंथ का प्रभाव पड़ चुका था, वह उदारतावादी हो गया था। व्यापक लोकदर्शन के फलस्वरूप स्वामी रामानंद की दृष्टि और भी उदार हो गई थी। इसीलिए उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शिष्यों में जुलाहे, रैदास, नाई, डोम आदि सभी का समावेश देखा जाता है। इस काल में जो सत्यभिनिवेशी भक्त या साधु हुए उन्होंने सत् के ग्रहणपूर्वक असत् पर निर्गम प्रहार भी किए। प्राचीन काल के धर्म की जो प्रतीक प्रधान पद्धति चली आ रही थी, सामान्य जनता को, उसका बोध न होने के कारण, कबीर जैसे संतों के व्यंग्यप्रधान प्रत्यक्षपरक वाग्बाण आकर्षक प्रतीत हुए। इन संतों में बहुतों ने अपने सत्कर्तव्य की इतिश्री अपने नाम से एक नया "पंथ" निकालने में समझी। उनकी सामूहिक मानवतावादी दृष्टि संकीर्णता के घेरे में जा पड़ी। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक नाना पंथ एक के बाद एक अस्तित्व में आते गए। सिक्खों के आदि युग नानकदेव ने (सं. 1526-95) नानकपंथ, दादू दयाल ने (1610 1660) दादूपंथ, कबीरदास ने कबीरपंथ, बावरी ने बावरीपंथ, हरिदास (16 वीं शती उत्तरार्ध) ने निरंजनी संप्रदाय और मलूकदास ने मलूकपंथ को जन्म दिया। आगे चलकर बाबालालजी संप्रदाय, धानी संप्रदाय, साथ संप्रदाय, धरनीश्वरी संप्रदाय, दरियादासी संप्रदाय, दरियापंथ, शिवनारायणी संप्रदाय, गरीबपंथ, रामसनेही संप्रदाय आदि नाना प्रकार के पंथों एवं संप्रदायों के निर्माण का श्रेय उन संतों को है जिन्होंने सत्यदर्शन एवं लोकोपकार का व्रत ले रखा था और बाद में संकीर्णता को गले लगाया। जो संत निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए राम, कृष्ण आदि को साधारण मनुष्य के रूप में देखने के आग्रही थे वे स्वयं ही अपने आपको राम, कृष्ण की भाँति पुजाने लगे। संप्रदायपोषकों ने अपने आदि गुरु को ईश्वर या परमात्मा सिद्ध करने के लिए नाना प्रकार की कल्पित आख्यायिकाएँ गढ़ डालीं। यही कारण है कि उन सभी निर्गुणिए संतों के वृत्त अपने पंथ या संप्रदाय की पिटारी में ही बंद होकर रह गए।

इधर साहित्य में जब से शोधकार्य ने बल पाया है तब से साहित्यग्रंथों के कतिपय पृष्ठों में उनकी चर्चा हो जाती है, जनसामान्य से उनका कोई संपर्क नहीं रह गया है। इन संप्रदायों में दो एक संप्रदाय ऐसे भी देख पड़े, जिन्होंने अपने जीवन में भक्ति को गौण किंतु कर्म को प्रधानता दी। सत्तनामी संप्रदायवालों ने मुगल सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊपर लहराया था (सवत 1729 विक्रमी)। नानकपंथ के नवें गुरु श्री गोविंद सिंह ने अपने संप्रदाय को सेना के रूप में परिणम कर दिया था। इसी संतपरंपरा में आगे चलकर राधास्वामी संप्रदाय (19वीं शती) अस्तित्व में आया। यह संतपरंपरा राजा राममोहन राय (ब्रह्मसमाज, 1835-90), स्वामी दयानन्द सरस्वती (संवत् 1881-1941 विक्रमी, आर्यसमाज), स्वामी रामतीर्थ (सं. 1930-63), तक चली आई है। महात्मा गांधी को इस परंपरा की अंतिम कड़ी कहा जा सकता है।[13,14,15]

साहित्य

जैसा पहले कहा जा चुका है, इन संप्रदायों और पंथों के बहुसंख्यक आदि गुरु अशिक्षित ही थे। अत: वे मौखिक रूप में अपने विचारों और भावों को प्रकट किया करते थे। शिष्यमंडल उन्हें याद कर लिया करता था। आगे चलकर उन्हीं उपदेशात्मक कथनों को शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध कर लिया गया और वही उनका धर्मग्रंथ हो गया। इन कथनों एवं वचनों के संग्रह में कहीं कहीं उत्तम और सामान्य काव्य की बानगी भी मिल जाती है। अत: इन पद्यकार संतों में कतिपय ऐसे संत भी हैं जो मुख्यत: संत होते हुए भी गौणत: कवि भी इसमें कइयों ने अपनी शास्त्रीय शिक्षा के अभाव को बहुश्रुतता द्वारा दूर करने का प्रयास अवश्य किया है, यह भी दर्शन के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में नहीं। इनमें बहुतों का साहित्य के स्वरूप से परिचय तक नहीं था किंतु उनकी अनुभति की तीव्रता किसी

भी भावुक के चित्त को प्राकृष्ट कर सती है। ऐसे संतों में कबीर का स्थान प्रमुख है। हिंदू तथा मुस्लिम दोनों की धार्मिक परंपराओं एवं रूढ़िगत कतिपय मान्यताओं पर, बिना दूरदर्शितापूर्वक विचार कि, उन्होंने जो व्यंग्यात्मक प्रहार किए और अपने को सभी ऋषियों मुनियों से आचारवान् एवं सच्चरित्र घोषित किया, उसके प्रभाव से समाज का निम्नवर्ग अप्रभावित न रह सका एवं आधुनिक विदेशी सभ्यता में दीक्षित एवं भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति से परांमुख कतिपय जनों को उसमें सच्ची मानवता का संदेश सुनने को मिला। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्मसमाजी विचारों से मेल खाने के कारण कबीर की बानियों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया और उससे आजीवन प्रभावित भी रहे। कबीर की रचना मुख्यत: साखियों और पर्दों में हुई हैं। इनमें उनकी स्वानुभूतियाँ तीव्र रूप में सामाने आई हैं। संतपरंपरा में हिंदी के पहले संतसाहित्यभ्रष्टा जयदेव हैं। ये गीतगोविंदकार जयदेव से भिन्न हैं। सधना, त्रिलोचन, नामदेव, सेन भाई, रैदास, पीपा, धन्ना, नानकदेव, अमरदास, धर्मदास, दादूदयाल, बषना जी, बावरी साहिबा, गरीबदास, सुंदरदास, दरियादास, दरिया साहब, सहजो बाई आदि इस परंपरा के प्रमुख संत हैं।

संतवाणी की विशेषता यही है कि सर्वत्र मानवतावाद का समर्थन करती है।

परिणाम

लगभग 13 वीं सदी के बाद से भारतीय उपमहाद्वीप के उत्तरी भाग में संत मत तत्कालीन गुरुओं व संतों का एक सहयोगी व अनुयाइयों का समूह था जिसे बहुत प्रसिद्धि मिली। धर्म ब्रह्म विज्ञान के तौर पर उनकी शिक्षाओं की विशेषता यह है कि वे अंतर्मुखी और प्रेम भक्ति के एक दैवीय सिद्धांत से जुड़े हैं और सामाजिक रूप से वे एक समतावादी गुणों वाले सिद्धांत से जुड़े हैं जो हिंदु धर्म की जाति प्रथा के विरुद्ध है और हिंदू - मुस्लिम के अंतर के भी विरुद्ध है।[1] संत परंपरा को मुख्यत: दो समूहों में बांटा जा सकता है: पंजाब, (राजस्थान और उत्तर प्रदेश) क्षेत्र के संतों का उत्तरी समूह जिसने अपनी अभिव्यक्ति मुख्यत: बोलचाल वाली हिंदी में की और दक्षिणी समूह जिसकी भाषा पुरातन मराठी है और जिसका प्रतिनिधित्व नामदेव और महाराष्ट्र के अन्य संत करते हैं।[1]

व्युत्पत्ति

'संत मत' का अर्थ है - 'संतों का मार्ग', 'सत्य का मार्ग', 'सही और आशावादी पथ' या 'संतों की राय'. 'संत' शब्द संस्कृत की धातु 'सद्' से बना है और कई प्रकार से प्रयोग हआ है (सत्य, वास्तविक, ईमानदार, सही). इसका मूल अर्थ है 'सत्य जानने वाला' या 'जिसने अंतिम सत्य अनुभव कर लिया हो। ' 'संत' शब्द से अर्थ आम तौर पर एक अच्छे व्यक्ति से लिया जाता है लेकिन इसका विशेष अर्थ मध्यकालीन भारत के संत कवियों से ही लिया जाता है।

संत

संत मत आंदोलन एकरूप नहीं था और इसमें संतों का अपना सामाजिक-धार्मिक व्यवहार शामिल था जो कि हजारों वर्ष पहले भगवद्गीता में वर्णित भक्ति पर आधारित माना जाता था। अपनी साझी कुछ रूढ़ियाँ आपस में और उन परंपराओं के अनुयायिओं में भी साझी थीं जिन्हें उन्होंने चुनौती दी थी। इस प्रकार संत मत विशिष्ट धार्मिक परंपरा के बजाय आध्यात्मिक व्यक्तित्वों का ऐसा विविधतापूर्ण समूह प्रतीत होता है जो एक सामान्य आध्यात्मिक मूल को स्वीकार करता है।[2]

इस आंदोलन की सीमाएँ संभवत: संप्रदायवादी नहीं थीं और इसमें जाति और पूजा-पद्धति की ब्राह्मण अवधारणाएँ भी नहीं थीं। संत कवियों ने अपनी वाणी बोलचाल की भाषा में लिखे काव्य में कही जो उन्होंने हिंदी और मराठी जैसी स्थानीय भाषाओं में सामान्य जन को संबोधित की। उन्होंने ईश्वर नाम को सच्चा रक्षक कहा और धार्मिक आडंबरों को मूल्यहीन कह कर खारिज कर दिया। उन्होंने इस विचार को स्थापित किया कि धर्म, ईश्वर के प्रति समर्पण का विषय है जो कि हृदय में बसता है।"[3].

उत्तर भारतीय संतों की पहली पीढ़ी जिसमें कबीर और रविदास शामिल हैं 15वीं शताब्दी के मध्य में बनारस में पैदा हुए. उनसे पूर्व 13वीं और 14वीं शताब्दी में दो मुख्य व्यक्तित्व नामदेव और रामानंद हुए. संत मत परंपरा के अनुसार रामानंद वैष्णव साधु थे जिन्होंने कबीर, रविदास और अन्य संतों को नाम दान दिया। रामानंदी भिक्षुओं की परंपरा, उसके बाद के अन्य संत और बाद के सिखों द्वारा रामानंद की कथा को अलग-अलग तरह से बताता है। इतनी जानकारी मिलती है कि रामानंद ने सभी जातियों से शिष्य स्वीकार किए, यह एक ऐसा तथ्य है जिसका रूढ़िवादी हिंदुओं ने उस समय विरोध किया था। संत मत के अनुयायी मानते हैं कि रामानंद के शिष्यों ने संतों की पहली पीढ़ी तैयार की। [4]

इन संतों ने एक संकृति का विकास किया जो समाज में हाशिए पर पड़े मनुष्यों के निकट थी जिसमें महिलाएँ, दलित, अछूत और अतिशूद्र शामिल थे। कुछ अधिक प्रसिद्ध संतों में रविदास (जन्म : सन् 1398), नामदेव (जन्म :सन् 1269), कबीर ((जन्म :सन् 1398), नानक ((जन्म :सन् 1469), सूरदास ((जन्म :सन् 1478), मीरा बाई ((जन्म :सन् 1504), तुलसीदास ((जन्म :सन् 1532) और तुकाराम ((जन्म :सन् 1606) शामिल हैं।.[16,17,18]

संतों की पंरपरा गैर-संप्रदायवादी रही यद्यपि माना जाता है कि कई संत कवियों ने अपने संप्रदाय स्थापित किए। इनमें से कइयों के नाम के साथ संत जुड़ा है लेकिन उनके शिष्यों ने आगे चल कर कबीर पंथ, दादू पंथ, दरिया पंथ, अद्वैत मत, आध्यात्मिकता का विज्ञान (www.sos.org) और राधास्वामी जैसे पंथ चलाए.[5]

धार्मिक हिंदुओं के एक अल्प समुदाय ने ही औपचारिक रूप से संत मत का अनुगमन किया है। परंतु इस परंपरा का सभी संप्रदायों और जातियों पर बहुत प्रभाव पडा़ है। मीरा बाई जैसे बीते संतों के भजन (भक्ति गीतों) को भारत और विश्व भर में हिंदु जातियों में काफी सुना जाता है। मध्यकालीन और आधुनिक भरत में केवल संत परंपरा ही है जिसने सफलतापूर्वक हिंदू और मुस्लिम सीमाओं को तोड़ा है। जूलियस जे. लिप्नर ने जोर दे कर कहा है कि संतों की धार्मिक शिक्षाओं ने कई हिंदुओं के जीवन का उत्थान किया है और उसने उसे स्वतंत्रतादायिनी कहा है।[3]

संत मत परंपरा में जिंदा गुरु को महत्व दिया जाता है जिसे सत्गुरु या 'पूर्ण गुरु' जैसे सम्मान सूचक शब्दों के साथ संबोधित किया जाता है।[6]

अन्य संबंधित आंदोलन

माना जाता है कि मध्यकालीन सूफी कवियों यथा जलाल अल-दीन मोहम्मद रूमी और सिंधी कवियों और संत मत कवियों के बीच बहुत समानता है।[7]

उत्तर भारत का राधास्वामी आंदोलन अपने आप को संतमत पंरपरा और धार्मिक प्रयास का मुख्य निधान मानता है और स्वयं को संत परंपरा के जीवित अवतार की भांति प्रस्तुत करता है। सबसे अधिक उल्लेखनीय राधास्वामी सत्संग ब्यास है, जो ब्यास नदी के किनारे पर स्थित है और जिसके वर्तमान जीवित गुरु बाबा गुरिंदर सिंह ढिल्लों हैं

निष्कर्ष

मार्क ज्यर्गंसमेयेर के अनुसार ऐसा दावा कबीर पंथी, सिख और अन्य आंदोलनों द्वारा भी किया जाता है जो आज की वैध संत मत परंपरा से अंतर्दृष्टि प्राप्त कर रही हैं।[8] डेविड सी. लेन ने बाबा फकीर चंद के दैवी रूप प्रकट होने से संबंधित फकीर के 'न जानने' के कथन को 'चंदियन प्रभाव' के रूप में निरूपित किया है। फकीर ने इसे अनुयायियों के मन का ही खेल कहा और रूप प्रकट होने को माया बताया। यह संतमत की कई धारणाओं को तोड़ता है।

गुरु महाराज जी (प्रेम रावत) और डिवाइन लाइट मिशन (एलेन विटाल) को जे. गोर्डन मेल्टन, लूसी डू पर्टीज़ और विशाल मंगलवाड़ी संत मत परंपरा का मानते हैं परंतु रॉन ग्रीव्ज़ इस लक्षण-वर्णन के विरोधी हैं।[9][10][11][12] 20वीं सदी के एकंकार Eckankar धार्मिक आंदोलन को भी डेविड सी. लेन ने संत मत परंपरा की ही शाखा माना है।[13] जेम्स आर. ल्यूइस ने इन आंदोलनों को नए संदर्भ में पुराने विश्वास की अभिव्यक्ति कहा है।[14]

वर्तमान में सन्तमत परम्परा अपने शुद्द स्वरुप में सन्तमत अनुयायी आश्रम वारानसी में प्रवाहित है।[18]

संदर्भ

[1] Johar, Surinder (1999). Guru Gobind Singh: A Multi-faceted Personality.p. 89. ISBN 978-8-175-33093-1.

[2] Pechilis Prentiss (2014), pp. 15-16.

[3] [Schomer & McLeod (1987), पृष्ठ 1.]

[4] भक्ति आन्दोलन के प्रमुख कारण

[5] वुडहेड, लिंडा और फ्लेचर, पॉल. रिलीजियन इन द मॉडर्न वर्ल्ड: ट्रेडीशंस एंड ट्रांसफॉर्मेशंस (2001) पृ.71-2. राऊटलेज (यू.के) ISBN 0-415-21784-9"

[6] गोल्ड, डेनियल, क्लैन एंड लाइनेज अमंग द संत्स: सीड, सब्स्टांस, सर्विस, in संत मत:स्टडीज़ इन डिवोशनल ट्रेडीशन आफ़ इंडिया in शोमर के. और मैक्ल्योड डब्ल्यू.एच. (Eds.). पृ.305, ISBN 0-9612208-0-5

[7] हीज़, पीटर, इंडियन रिलीजियंस: अ हिस्टॉरिकल रीडर ऑफ स्पिरीचुअल एक्सप्रेशन एंड एक्सपीरिएंस, (2002) पृ.359. NYU Press, ISBN 0-8147-3650-5

[8] वाउडेविले, चार्लट. संत मत: संतिज़्म इज़ द यूनिवर्सल पाथ टू सैंक्टिटी in संत मत:स्टडीज़ इन डिवोशनल ट्रेडीशन ऑफ इंडिया in शोमर के. और मैक्ल्योड डब्ल्यू.एच. (Eds.) ISBN 0-9612208-0-5

[9] ल्यूइस, जेम्स पी. (1998). सीकिंग द लाइट: अनकवरविंग द ट्रूथ अबाउट द मूवमेंट ऑफ स्पिरीचुअल इन्नर अवेयरनेस एंड इट्स फाऊँडर जॉन-रोजर. हिचइन: मंडेविले प्रेस. पृ° 62. आई°ऍस°बी°ऍन° 0-914829-42-4.

[10] अलसानी, अली, सिंधी लिटरेरी कल्चर, in पोल्लोक, शेल्डन I. (Ed.) लिटरेरी कल्चर इन हिस्टरी (2003), p.637-8, यूनीवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस, ISBN 0-520-22821-9

[11] ज्यर्गंसमेयेर, मार्क. द राधास्वामी रिवाइवल पृ.329-55 in संत मत स्टडीज़ इन अ डिवोशनल ट्रेडीशन ऑफ इंडिया in शोमर के. और मैक्ल्योड डब्ल्यू.एच. (Eds.) W.H. ISBN 0-9612208-0-5

[12] जे. गोर्डन मेल्टन., एनसाइक्लोपीडिया ऑफ अमेरीकन रिलीजियंस

[13] लूसी डू पर्टीज़. "हाओ पीपल रिकॉगनाइज़ करिश्मा: राधास्वामी और डिवाइन लाइट मिशन" के मामले में दर्शन in सोशिऑलाजिकल एनालाइसिस: अ जर्नल इन द सोशियोलोजी ऑफ रिलीजियन Vol. 47 No. 2 by एसोसिएशन फॉर द सोशियोलॉजी ऑफ रिलीजियन. शिकागो, समर 1986, ISSN 0038-0210, pp. 111-124.

[14] मंगलवाडी, विशाल (1977), वर्ल्ड ऑफ गुरुज़, नई दिल्ली: विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा.लि., पृ° 218, आई°ऍस°बी°ऍन° 0-7069-0523-7

[15] रोन ग्रीव्ज़. "फ्राम डिवाइन लाइट मिशन टू एलन विटाल एंड बियोंड:एन एक्सप्लोरेशन ऑफ चेंज एंड एडेप्टेशन" in नोवा रिलीजियो:द जरनल ऑफ आल्टरनेटिव एंड इमेर्जेंट रिलीजियंस वाल्यूम. 7 No. 3. मार्च 2004, पृ. 45–62. मूल रूप से अल्प मत धर्म, सामाजिक परिवर्तन और आत्मा की स्वतंत्रता पर (यूनीवर्सिटी ऑफ ऊटाह एट साल्ट लेक सिटी) में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में प्रस्तुत किया गया। At Caliber (जरनल्स ऑफ द यूनीवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रैस)[मृत कड़ियाँ]

[16] लेन, डेविड सी., "एक आध्यात्मिक आंदोलन की रचना", एल मार प्रैस; संशोधित संस्करण (दिसंबर 1, 1993), ISBN 0-9611124-6-8

[17] ल्यूइस, जेम्स आर. द ऑक्सफोर्ड हैंडबुक ऑफ न्यू रिलीजियस मूवमेंट्स पृ.23, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रैस (2003), ISBN 0-19-514986-6

[18] A BRIEF INTRODUCTION At "सन्तमत अनुयायी आश्रम" Archived 2013-07-16 at the वेबैक मशीन